विक्रम संवाद

पाक्षिक आलेख सेवा/नि:शुल्क वितरण के लिए

सम्पादक

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ

1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010

फोन : 0734-2521499, 0755-2660407

Email : mvspujjain@gmail.com
vikramadityashodhpeeth@gmail.com

Web : www.mvspujjain.com

इस अंक में

पृष्ठ क्र. 1-2

मालवा के मठ और तीर्थस्थल
विजय परिहार

पृष्ठ क्र. 3-4

विदिशा और उज्जयिनी का अंतर्संबंध
संजय कुमार दीक्षित

पृष्ठ क्र. 5-6

विक्रमयुगीन व्यापार, शिल्प और नगर
अमित बिसेन

पृष्ठ क्र. 7

अवन्तिराज प्रद्योतकाल में मगध
रामेन्द्र कुमार शर्मा

पृष्ठ क्र. 8

संस्कृत लोकसाहित्य और भोजप्रबन्ध
मिथिलेश यादव

मालवा के मठ और तीर्थस्थल

विजय परिहार

धर्म के व्यवस्थापकों तथा आचार्यों के निवास के लिए मठों का निर्माण किये जाने की परम्परा प्राचीन है। इस प्रकार के मठ जन-कोलाहल से दूर निर्जन तथा एकान्त स्थानों पर बनाये जाते थे। सम्भवतः मठों की कल्पना बौद्ध धर्म की देन है। बौद्ध भिक्षुओं के भिक्षाटन को रोकने के लिए बौद्ध मठों व विहारों का निर्माण किया गया और इन संस्थाओं को दान देने की परम्परा प्रारम्भ की गयी। यह परम्परा ही कालान्तर में मठ के रूप में विकसित हुई प्रतीत होती है। समय के साथ-साथ बौद्ध मत में महासुख की कल्पना का प्रवेश हुआ। यह कल्पना शक्ति मत से बहुत अधिक साम्य रखती है। कालान्तर में शाक्त तथा बौद्ध मतों में भेद समाप्त होता गया तथा शिव-शक्ति के मिलन की कल्पना व्यापकता पा गयी। भिक्षुगण आध्यात्मिक तथा शैक्षिण विषयों को छोड़कर तंत्र तथा महासुख की कल्पना में लीन हो गये। प्रमुख भिक्षुगण दान दी गई सम्पत्ति को अपने अधिकार में लेने का हर सम्भव प्रयास करने लगे। कालान्तर में व्यक्तिगत पद का लाभ उठाकर ये भिक्षुगण समस्त सम्पत्ति को अपने आधिपत्य में कर उस संस्था (मठ) के स्वामी बन बैठे। प्रधान अधिकारी मठाधीश के रूप में कार्य करने लगे। बौद्ध, शैव तथा शाक्त मत इस प्रकार मिश्रित धर्म बन गये थे और उनमें स्थूल विभेद करना ही कठिन हो गया था। शैव साधु तथा मंत्रयानी भिक्षुओं में कोई अन्तर नहीं रहा। बौद्ध परम्परा में शनैः शनैः प्रवेश हुई बुराईयाँ कुछ समय पश्चात् जीवित रही। ऐसा लगता है कि उसका अस्तित्व शैवमत में विलीन हो गया। वर्तमान समय में मठाधीश शैव मतानुयायी माने जाते हैं। मालवा में शैव मठ परम्परा की प्राचीनता के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। फिर भी प्राप्त सन्दर्भों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मालवा में शैव मठों की परम्परा, प्राचीन समय से ही विद्यमान रही हैं। पंचतंत्र में उल्लेखित एक कथा के अनुसार उज्जयिनी के बाहर एक मठ था।

वर्तमान में हमें इस मठ से संबंधित कोई पुरावशेष प्राप्त नहीं होते हैं, लेकिन पंचतंत्र की प्रामाणिकता को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार कथा-सरित्सागर में उल्लेखित एक कथा के अनुसार, आदित्यसेन नामक राजा जब एक विद्रोही सामन्त पर आक्रमण करने उज्जयिनी के मार्ग से निकला, तब उज्जयिनी के बाहर एक ब्राह्मण के गुप्त मठ में ही उसने रात को विश्राम किया था। इस गाथा में ऐतिहासिकता के बारे में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आज उज्जैन में प्राचीन मठों के अस्तित्व के कोई भी पुरातात्विक प्रमाण प्राप्त नहीं होते हैं। फिर भी हम यह सुविधापूर्वक कह सकते है कि मालवा में गुप्त औलिकर काल में निश्चित ही शैव मठ निर्मित होने लगे थे। अभिलेखों में भी शैव मठों का उल्लेख मिलता है। इन मठों में शैव योगी तथा आचार्य निवास करते थे। आज भी यह परम्परा विद्यमान है। इन मठों के लिऐ राजाओं से दान प्राप्त हुआ करते थे। संन्यासियों की सुविधा के लिए मठों के निकट तालाब तथा उद्यान भी निर्मित किये जाते थे। कलचुरि शासक रत्नदेव तृतीय के मंत्री ने 1181 ई. में एक शैव मठ का निर्माण करवाया था। सोमेश्वर ने उदयपुर अभिलेख में कापालिकों के निवास के लिए शैव मठ के निर्माण का उल्लेख आया है। इन शैव मठों में रह कर शैव योगी साधना किया करते थे। मान्धाता का अमरेश्वर मंदिर, प्रस्तर-खण्ड अभिलेख सोमेश्वरदेव मठ का उल्लेख करता है। सातवीं शताब्दी में जब जगद्गुरू शंकराचार्य अपने दिग्विजय अभियान पर निकले थे तो उज्जैन भी आये थे। उस समय उज्जैन में शैव मठ अस्तित्व में थे। एक शैवाचार्य उन्मत भैरवानन्द उनसे विवाद करने के लिये भी उपस्थित हुआ था। शंकराचार्य ने अन्य सम्प्रदायों के साथ-साथ उज्जैन के कापालिकों और पाशुपतों से भी शास्त्रार्थ कर विजय प्राप्त की थी।

उज्जैन में दत्त अखाड़ा नामक एक मठ अभी भी विद्यमान है। यह भैरव या जूना अखाड़ा कहलाता है। यद्यपि मराठाकाल में इस अखाड़े का पूरी तरह पुनः निर्माण कर दिया गया है, फिर भी यहाँ ऐसी अनुश्रुति है कि इस अखाड़े की स्थापना शंकराचार्य द्वारा की गई थी। इस अखाड़े के प्रांगण में एक छोटे से देवालय में स्फटिक प्रस्तर के दो अति लघु शिवलिंग अभी भी विद्यमान है। इन शिवलिंगों के विषय में यह मान्यता है कि ये शंकराचार्य द्वारा स्थापित किये गये थे। इस देवालय के सामने पूर्व में शिप्रा नदी प्रवाहित है। इस नदी पर इस ओर जो घाट है, वह भी हरि–हर घाट कहलाता है। आचार्य शंकर द्वारा स्थापित किये जाने संबंधी इस मठ की अनुश्रुति को एकदम अस्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि आचार्य शंकर द्वारा अन्यत्र मठ स्थापित किये गये थे। दक्षिण में श्रृंगेरी मठ, पूर्व में गोवर्धन मठ, उत्तर में जोशी मठ तथा पश्चिम में शारदा मठ। इन मठों के अतिरिक्त काँची काम–कोटि मठ भी स्वयं को शंकराचार्य द्वारा स्थापित किये जाने का दावा प्रस्तुत करता है।

विदिशा के ग्यारसपुर में दक्षिण–पश्चिम में स्थित मंदिर वाजिया मठ (वज्र मठ) के नाम से जाना जाता हैं। इस मंदिर में शिव, विष्णु तथा सूर्य की प्रतिमाएँ स्थापित थी। वर्तमान समय में यहाँ जैन प्रतिमाएँ स्थापित हैं। ऐसा मानना अन्यथा नहीं है कि प्राचीन समय में यह शैव मठ रहा होगा। गुना क्षेत्र के कदवाहा ग्राम के एक मील उत्तर–पश्चिम में एक 10वीं–11वीं सदी का शिव मंदिर स्थानीय जनता में चाण्डाल मठ के नाम से जाना जाता है। कदवाहा में ही गढ़ी क्षेत्र के निकट लगभग 10वीं शताब्दी ई. का एक दो मंजिला शैव मठ बना हुआ है। यह मठ मत्तमयूर सम्प्रदाय के शैवाचार्यों के लिए बनवाया गया था। इस स्थल से प्राप्त अभिलेख में शैवाचार्यों की वंशावली दी गयी है।[७] गुना क्षेत्र के ही रणोद नाम स्थान पर लगभग 10–11वीं शताब्दी का एक शैव मठ निर्मित है। यह मठ स्थानीय जनता में खोखई नाम से जाना जाता है। प्रस्तरों द्वारा निर्मित इस दो–मंजिले शैव मठ से प्राप्त लेख से ज्ञात होता है कि इस मठ का निर्माण मत्तमयूर सम्प्रदाय के व्योमकेश शैवाचार्य द्वारा किया गया था। परमार काल में मालवा में अनेक शैव सम्प्रदायों का विकास हुआ। इन शैव सम्प्रदायों के शैव गुरुओं के लिए शैव मठों की स्थापना करना स्वाभाविक था। उज्जैन का चंडिकाश्रम मठ इस परंपरा का ज्वलंत प्रमाण है। इस मठ में शैव धर्म के ग्रंथ संरक्षित थे और उन पर सत्संग किया जाता था। इस मठ के मुख्य मठाधीश के नाम तापस, वकालवासी, ज्येष्ठजराशि, योगेश्वरराशि, मौनीराशि, योगेश्वरीराशि, दुर्वासारशि, केदारराशि और अन्य थे। योगेश्वरी नाम से पता चलता है कि शायद महिलाएँ भी मठाधीश बन सकती थीं। भव–बृहस्पति नामक शैवाचार्य ने भी पीठाचार्य की प्रतिष्ठा अर्जित की थी। तीर्थों का धार्मिक क्षेत्र में अपना महत्वपूर्ण स्थान रहा है। धर्म से अनुप्राणित इस भारत–भूमि का ह्रदय–स्थल मालवा तीर्थों का नगर कहलाता है। मालवा का अंचल दो–दो ज्योतिर्लिंगों से सुशोभित है। एक ज्योतिर्लिंग शिप्रा के किनारे महाकाल के नाम से प्रसिद्ध है, तो दूसरा ज्योतिर्लिंग नर्मदा के किनारे औंकारेश्वर के नाम से जाना जाता हैं। महाकाल की नगरी अवन्तिका का तथा ओंकारेश्वर का प्राचीन समय से ही महत्वपूर्ण स्थान रहा है। दोनों ही तीर्थस्थल अनेक शैवतीर्थों को अपनी गोद में समेटे हुए हैं। वर्तमान समय में इन शैव तीर्थों के साहित्यिक सन्दर्भ अधिक तथा पुरातात्विक प्रमाण अल्प मात्रा में प्राप्त होते हैं। शिप्रा के पूर्वी तट पर स्थित कर्कराज तीर्थ पर कर्कराजेश्वर का मंदिर विद्यमान हैं। कर्कराज का मूल मंदिर प्राचीन समय में घाटों से युक्त रहा होगा। कालान्तर में शिप्रा का तल ऊपर उठ आने तथा घाटों के दब जाने के कारण सिर्फ मंदिर का चबूतरा ही दिखलाई देता है। चबूतरा 30X40 का वर्गाकार तथा तीन आयाम वाला है। मंदिर का अर्धमण्डप, अन्तराल व गर्भगृह प्राचीन है। जीर्णोद्वार के कारण शिखर मराठा–कालीन शैली में है। अर्धमण्डप में एक खण्डित छोटा नन्दी विद्यमान है। मंदिर के आसपास का परिक्रमा स्थल चबूतरें पर ही विद्यमान है। गर्भगृह से खड्गधारी शिव की एक प्रतिमा प्राप्त होती है। यह प्रतिमा उत्तर परमार कालीन है।

स्कन्द पुराण के वर्णानानुसार शिप्रा के पूर्वी तट पर स्थित पिशाचमोचन तीर्थ पर भगवान रामचन्द्र ने शिवलिंग की स्थापना की थी। यही कारण है कि वर्तमान समय में यह तीर्थस्थल रामघाट के नाम से जाना जाता है। रामघाट शिप्रा नदी का महत्वपूर्ण घाट माना जाता है। इस तीर्थ–स्थल पर पिशाच–मुक्तेश्वर, डमरूकेश्वर तथा ढूँढेश्वर विद्यमान हैं। यह स्थल पंचतीर्थी भी कहलाता है। यहाँ रामघाट, सुन्दरकाण्ड, पिशाचमुक्तेश्वर, नीलगंगा–संगम तथा हरिहर तीर्थ एकत्र होते हैं। इस तीर्थ–स्थल पर अनेक परमारकालीन शैव प्रतिमाएँ विद्यमान है। पिशाच मोचन प्राचीन तीर्थ आजकल क्षिप्रा तट पर है। वर्तमान में यहाँ अनेक परमारकालीन शैव प्रतिमाएँ देखी जा सकती हैं, जो काले व लाल प्रस्तरों से निर्मित की गयी हैं।

गंधवती तथा शिप्रा नदियों के संगम पर गंधवती तीर्थ विद्यमान है। मनकामनेश्वर महादेव इस तीर्थ–स्थल के आराध्य देवता हैं। कुक्कुटेश्वर मंदिर तथा दुर्दुरेश्वर के मंदिर भी यहीं विद्यमान हैं। शिप्रा तट के पूर्व में स्थित चक्र–तीर्थ प्रयागेश्वर व सुनहरा घाट के मध्य विद्यमान हैं। पुराण में इस चक्रतीर्थ की महिमा विस्तृत रूप से वर्णित की गई हैं। कहा गया कि इस तीर्थ में स्नान करके भगवान चक्रपाणि की पूजा करने से चक्रवर्ती पद प्राप्त होता है। वर्तमान समय में यहाँ शिवालय तथा भैरव का मंदिर और दशभुजी गणेश का मंदिर हैं। सम्प्रति यह उज्जयिनी का मुख्य श्मशान स्थल हैं। चक्र तीर्थ और ऋणमुक्तेश्वर के मध्य पुराने जीर्ण–शीर्ण घाट विद्यमान हैं। इन घाटों का निम्न भाग कीचड़ में दब सा गया है। इसी स्थान पर प्रयाग तीर्थ बना हुआ हैं। इस तीर्थ स्थल पर गंगा नामक एक नाला आकर मिलता हैं। यहाँ पर प्राचीन उज्जयिनी के खण्डित मंदिरों के अवशेषों से निर्मित विशालतम प्राचीर वर्तमान समय तक विद्यमान रही है। प्राचीन तथा मध्यकालीन उज्जयिनी का सम्मिलित स्वरूप इस स्थल पर दृष्टिगोचर होता है।

विदिशा और उज्जयिनी का अंतर्संबंध

संजय कुमार दीक्षित

पुरातात्विक उत्खननों, प्राचीन साहित्य एवं इतिहास से यह विदित होता है कि प्राचीन मध्यप्रदेश के दोनों नगर विदिशा एवं उज्जयिनी पर्याप्त समय तक एक ही शासनान्तर्गत रहे। इन नगरों का प्राचीन राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास पाररस्परिक सम्पर्क की महत्वपूर्ण सूचना देता है। यह तिथि दूर नहीं रखी जा सकती, जबकि दोनों नगरों की स्थापना लौह प्रयोगकर्ताओं ने एक ही समय में की व नगरीय सभ्यता में इनको ढाला। बुद्ध के समय में अवन्ती सोलह महाजन में से एक थी और उसकी राजधानी उज्जयिनी बहुत समृद्धशाली थी। महावस्तु में भी दशार्ण जनपद का उल्लेख मिलता है जिसमें विदिशा नगर स्थित था। दसण्णक जातक से यह विदित होता है कि यह नगर तीक्ष्ण धार वाली तलवारों के लिए प्रसिद्ध था। दोनों नगर व्यापारिक मार्गों पर स्थित थे, इसका वर्णन पालिग्रंथ समंतपासादिका में दृष्टव्य है। बौद्ध ग्रंथ महवंश से यह प्रकट होता है कि उज्जयिनी के राज्यपाल पद को ग्रहण करने के निमित्त जाते समय अशोक विदिशा में रुका हुआ था। वहाँ उसने नगर श्रेष्ठि देव की कन्या देवा के साथ विवाह किया। महाबोधिवंश के अनुसार इससे महेन्द्र नाम पुत्र एवं संघमित्रा नामक पुत्री उत्पन्न हुई। इस ग्रंथ में उसे श्वेदिस–महादेवी कहा गया है। अशोक ने विदिशा के उपनगर साँची में एक विशाल स्तूप की रचना करवाई। उज्जैन के वैश्या टेकरी उत्खननष से भी एक विशाल स्तूप का पता लगा है। जनश्रुति में वैश्या–पुत्री द्वारा निर्मित बौद्ध स्तूप वैश्या टेकरी के नाम से शताब्दियों तक प्रचलित रहा व आज भी इसी नाम से विदित है।

मौर्य साम्राज्य की विश्रृंखलता से यह सम्पूर्ण क्षेत्र स्वतंत्र हो गया था। दोनों स्थानों पर स्थानीय भारतीय शासकों के नाम उनकी मुद्राओं से ज्ञात होते हैं। शुंगकाल में विदिशा एक प्रसिद्ध महत्वपूर्ण राजनीतिक एवं व्यापारिक केन्द्र था ऐसा कालिदास के 'मालविकाग्निमित्रम्' नाटक से प्रतीत होता है। इस काल में दोनों नगर आर्थिक रूप से समृद्ध थे और बौद्ध स्थापत्य में अपना दाय भाग प्रदान करते थे। साँची स्तूप निर्माण में विदिशानगर के 18 दानदाताओं ने दान दिया था जिनमें से अधिकतर दंतशिल्प में प्रवीण थे। उज्जयिनी के लगभग 31 दानदाताओं ने दान दिया था।

जिसमें से अधिकतर दंतशिल्प में प्रवीण थे। विदिशा के दानदाताओं के नाम भरहुत स्तूप की बेष्टिनियों पर भी अंकित है। उज्जयिनी के लगभग 31 दानदाताओं ने अपना योग प्रदान किया था। कालिदास ने मेघदूत में विदिशा को वेत्रवती नदी के तट पर स्थित दर्शार्ण देश की राजधानी एवं उज्जयिनी को विशाला कहकर दोनों नगरों की भव्यता प्रदर्शित की है। विदिशा में पुष्यमित्र का पुत्र अग्निमित्र शासन के प्रतिनिधि के रूप में भव्य राजप्रासाद में निवास करता था। बेसनगर के गरुड़ स्तम्भ से शुंगकाल में इस नगर में भागवत (वैष्णव) धर्म का प्रचार स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होता है। हेलियादोरस नामक यवन दूत भागवत मतावलम्बी था, उसने विदिशा में प्रस्तदोत्तम के समक्ष गरुड़ स्तम्भ की स्थापना की थी। यह स्तम्भ लेख वैष्णव धर्म के विकास एवं उद्‌गम की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। ॲवलेश्वर स्तम्भ से भी यह ज्ञात होता है कि पश्चिम मालव में भी भागवत धर्म का पर्याप्त वर्चस्व था और शकारि विक्रमादित्य का भी।

शुंगों के पश्चात् दोनों स्थानों पर जिन शक–शासकों की ताम्र मुदाओं की प्राप्ति हुई है। जैसे उज्जैन से प्राप्त हनुगम, वालक, महू दास व सीम इनमें से दो शासकों हनुगम व बालक की ताम्र मुद्राएँ विदिशा से मिली हैं। ये 100 ई.पू. से 50 ई.पू. के मध्य उज्जैन एवं विदिशा के शासक रहे होंगे इन्हें भूमक व चष्टनवंश पूर्व के राजा कहा गया है। ये शासक इतने शक्ति सम्पन्न रहे होगें कि अपनी मुद्रा प्रसारित कर सकते थे। पश्चिमी क्षत्रप व शासकों ने अपनी राजधानी उज्जयिनी के साथ ही समीपस्थ विदिशा नगर की भी समृद्धि प्रदान की। विदिशा एवं सांची में शक क्षत्रप व महाक्षत्रप की रजत व ताम्र मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। रुद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख में पूर्वापराकरावन्त्य वर्णन आया है। उससे ज्ञात होता है कि पूर्वापरा रूप में विदिशा क्षेत्र अवन्ती राज्य के अन्तर्गत था। रुद्रदामन की राजकुमारी का विवाह सातवाह वंश के राजा गौतमीपुत्र पुलुभावी के साथ हुआ था। गौतमी पुत्र पुलुभावी के विदिशा का शासक होने संबंधी प्रमाण उसकी रजत मुद्रा का यहाँ से प्राप्त होना है। गुप्तकाल में समुद्रगुप्त की दिग्विजय के समय सनकानिक काक भेलसा के समीपस्थ क्षेत्रों पर शासन कर रहे थे। इस समय उज्जैन के शक शासकों में रुद्रसिंह द्वितीय व उसका पुत्र यशोदामन द्वितीय ने महाक्षपत्र उपाधि ग्रहण नहीं की थी। संभव है समुद्रगुप्त ने अपने ज्येष्ठ पुत्र को पूर्वी मालवा का शासक (गर्वनर) नियुक्त

किया होगा। रामगुप्त की ताम्र मुद्राएँ उज्जैन, विदिशा एवं एरण से प्राप्त हुई है, जो नन्दी, सिंह एवं गरुड़ प्रकार की हैं। परमेश्वरीलाल गुप्त, कृष्णदत्त वाजपेयी आदि विद्वान इसे साहित्यिक वर्णन के रामगुप्त से जोड़ते हैं। विदिशा के समीप ही तीन जैन प्रतिमाएँ प्राप्त हुई है, इनके पादपीठ पर उत्कीर्ण लेख में रामपगुप्त की उपाधि 'महाराजाधिराज' अंकित है, इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह शासक गुप्तवंशीय था और यह संभावना है कि यह उज्जैन के एरण तक के क्षेत्र का शासक रहा होगा।

साहित्यिक स्रोतों से यह ज्ञात होता है कि उसकी दुर्बलता का लाभ उठाकर शकों ने ध्रुवदेवी का अपहरण किया था। इन परिस्थितियों में चन्द्रगुप्त द्वितीय ने हर्षचरित के अनुसार स्त्री के वेश में शक प्रमुख का वध किया था। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने उदयगिरि एवं साँची से प्राप्त अभिलेखों से ज्ञात होता है कि सम्राट सम्पूर्ण पृथ्वी को जीतने की इच्छा से अपने सान्धिविग्रहिक सचिव वीरसेन (शाव) के साथ सैनिक शिविर डाले पड़ा हुआ था। यह अमात्य उसका महाबलाधिकृत (सेनानायक) भी था। अन्य पदाधिकारी आग्रकार्दक था, जिसने अनेक युद्धों में विजय के कारण यश की प्राप्ति की थी। ये प्रमाण शक विजय के निमित्त उसके सैनिक प्रस्थान की ओर संकेत करते हैं। निश्चय ही उज्जयिनी के क्षत्रपों को चन्द्रगुप्त द्वितीय ने पराजित किया था। उसकी शकारि उपाधि से भी यह सिद्ध होता है। कनारी जिले के कतिपय सामंत इस नरेश को उज्जयिनी पुरवराधीश्वर कहते थे। इस शब्द से यह स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के काल में उज्जयिनी प्रसिद्ध राजनीतिक केन्द्र था। कुमारगुप्त कालीन उदयगिरि एवं साँची अभिलेख से उसके इस क्षेत्र में अधिकार की पुष्टि होती है। वन्धवर्मन सामन्त सेनापति था। वह पश्चिमी मालवा पर राज्य कर रहा था। बुधगुप्त के समय मालवा पर गुप्त–साम्राज्य की शक्ति क्षीण पड़ने लगी, इस समय मालवा पर गुप्तों के सामंत शासक थे। गुप्त युग में दोनों ही नगरी में वैष्णव धर्म चरमोत्कर्ष पर था। परम वैष्णव गुप्त राजाओं ने इन नगरों में वैष्णव धर्म का प्रचार किया, जिसकी पुष्टि उदयगिरि के वराह, शेषशायी विष्णु से सम्बन्धित गुफाओं एवं उज्जयिनी से प्राप्त प्रतिमाओं से होती हैं। पुराणों में विदिशा व उज्जैन की ब्राह्मण धर्म संबंधी मुख केन्द्रों के रूप में गणना की गई है। स्कन्दपुराण में विदिशा नगर को तीर्थस्थल कहा गया है। स्कन्दपुराण का अवन्तीखण्ड तो पूर्णरूपेण उज्जयिनी का ही वैभव प्रतिपादित करता है। गरुड़ पुराण के अनुसार विदिशा नगर की शोमा अन्वेक्षणीय (शोभाक्ष्यम्) थी। यह विविध बहुमूल्य रत्नों से सम्पन्न था (नानारत्नसमाकुलम्) तथा इसमें विविध प्रदेशों के निवासी रहते थे (नानाजनपदाकीर्णम्)। यह नगर धर्म का केन्द्र स्थल था (नानाधर्मसमन्वितम्)। इसके नागरिक ऐश्वर्य एवं विलासकी सामग्री से सम्पन्न थे (सर्वसम्पत्समन्वितम्)। स्कन्दपुराण में उज्जयिनी का कनकश्रृंगा, सम्पन्नतायुक्त पद्मावती आदि रूपों में वर्णन किया गया है। इससे दोनों नगर की धार्मिक एवं आर्थिक सम्पन्नता पर प्रकाश पड़ता है। गुप्त सम्राटों के पश्चात् इन दोनों नगरों को पारपरिक सम्पर्क स्पष्ट रूप से कलचुरि नृपतियों के समय में मिलता है। कलचुरि शासकों में कृष्णराज की सात रजत मुद्राएँ विदिशा से प्राप्त हुई है। कृष्णराज के पुत्र शंकरगण ने जो बड़ा शक्तिशाली राजा था महासेन गुप्त से उज्जयिनी विजित किया, इसका प्रमाण उसकी अभोना ताम्रपट्टिका से मिलता है। शकरगण के पुत्र बुचराज ने 608 ई. में वैदिशावासक पर एक दानपत्र प्रसारित किया था। ये शासक परममाहेश्वर (शिव के अनन्य भक्त) थे। यह उनके अभिलेखों एवं प्राप्त रजत मुद्राओं से सिद्ध होता है। इस प्रकार उज्जयिनी एवं विदिशा क्षेत्र पर कुल काल कलचुरियों का शासन रहा। बाणभट्ट की कादम्बरी (सातवीं शताब्दी ई.) में विदिशा को कलिकालभायपुजिमुत की तरह तीनों लोकों की जन्मभूमि के समान व्यापक कहा गया है, और उज्जयिनी को रत्नों के पूरे सागर द्वारा एकत्रित कहा गया है। उपरोक्त विवरण से विदिशा नगर की विशालता, उज्जैन के आर्थिक वैभव का पता चलता है। परमार काल के दौरान, विदिशा और उज्जयिनी दोनों अलग–अलग राजाओं के अधीन फले–फूले। गगनचुंबी इमारतें विशाल मंदिरों से भरी हुई थीं। दोनों शहर मालव क्षेत्र के साहित्य, स्थापना और मूर्तिकला के केंद्र थे।

पाटलिपुत्र एवं उज्जयिनी में जो सम्पर्क मौर्यकाल में था वह शुंगकाल में नहीं रह सका। उज्जयिनी की अपेक्षा शुंगों ने विदिशा को अधिक महत्व दिया, क्योंकि वहाँ से विदर्भ, अवन्ति, वत्स, कोशल एवं अन्य क्षेत्रों पर आसानी से नियंत्रण रखा जा सकता था। पाटलिपुत्र के सम्राट पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र को वैदिशस्य 59 कहा गया है, क्योंकि वह विदिशा में राज्यपाल था। पुष्यमित्र के पुरोहित पंतजलि ने जहाँ इस बात का उल्लेख किया है कि पाटलिपुत्र की स्थिति सोन नदी के तट पर थी। वहीं उन्होंने उज्जयिनी से माहीष्मती की दूरी का भी विवरण दिया है, इससे ज्ञात होता है कि वे पाटलिपुत्र एवं उज्जयिनी दोनों को देख चुके थे। शुंग काल में व्यापारी विदिशा होते हुए उज्जयिनी एवं आगे तक जाते थे, जिनमें कीकठ याने मगध के भी व्यापारी थे, जिनमें से कई एक ने साँची स्तूप के निर्माण में भी योगदान दिया था। ये लोग पाटलिपुत्र के रहे होंगे, क्योंकि उस काल में मगध में यही नगर व्यापारियों का मुख्य केन्द्र था। महिष्मती के बाद विदिशा ही इस क्षेत्र का सबसे पुराना नगर माना जाता है। महिष्मती नगरी के ह्रास होने के बाद विदिशा को ही पूर्वी मालवा की राजधानी बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इसकी चर्चा वैदिक साहित्यों में कई बार मिलती है।ऐतिहासिक स्रोतों के अनुसार मौर्य वंश के शासक अशोक ने यहीं की व्यापारी की पुत्री से विवाह किया। उसके हृदय में इस नगर के प्रति विशेष सम्मान था। मौर्यों के बाद शुंग वंश के शासकों ने इस पर अधिपत्य किया। उनकी एक शाखा ने विदिशा पर राज किया। इसके बाद नाग वंश व सातवाहन वंश ने इस पर शासन चलाया। उनके काल में भी यह शुगों की तरह हिंदू धर्म का केंद्र रहा।

विक्रमयुगीन व्यापार, शिल्प और नगर

अमित बिसेन

विक्रमादित्य, शकों, कुषाणों और सातवाहनों का (200 ई.पू. 200ई) और प्रथम तमिल राज्यों का युग प्राचीन भारत के शिल्प और वाणिज्य के इतिहास में चरम उत्कर्ष का काल था। इस काल में कलाओं और शिल्पों का विलक्षण विकास हुआ। इस काल के ग्रंथों में हम शिल्पियों के जितने प्रकार पाते हैं, उतने पहले के लेखों में नहीं पाते। मौर्यपूर्व काल के दीर्घनिकाय में लगभग चौबीस प्रकार के व्यवसायों का उल्लेख है तो इसी काल के महावस्तु में राजगीर में रहने वाले 36 प्रकार के व्यवसासियों का उल्लेख है, और फिर मी सूची अधूरी है। मिलिन्द–पव्हो या मिलिन्द–प्रश्न में तो 75 व्यवसाय गिनाये गये हैं, जिनमें 60 विविध प्रकार के शिल्पों से संबंध हैं। साहित्यिक स्रोतों में तो शिल्पियों को अधिकतर नगरों से जोड़ा गया है, किन्तु कुछ उत्खननों से प्रकट होता है कि वे गाँवों में भी बसते थे। तेलंगाना स्थित करीमनगर के एक गाँव में बढ़ई, लोहार, सोनार, कुम्हार आदि अलग–अलग टोलों में रहते थे तथा कृषि मजदूर तथा अन्य मजदूर एक दूसरे छोर पर बसते थे। आठ शिल्पी सोना, चाँदी, सीसा, टिन ताँबा, पीतल, लोहा और रत्न के काम करते थे। पीतल, जस्ते, ऐटीमनी और लाल आर्सेनिक के कई प्रमेदों का उल्लेख है। इससे खान और धातु के कौशल में भारी प्रगति और विशेषीकरण का पता चलता है। लोहा बनाने के तकनीकी ज्ञान से नारी प्रगति हुई। अनेक उत्खनन स्थलों पर कुषाण और सातवाहन कालीन स्तरों में लौहशिल्प की वस्तुएँ आधिकारिक संख्या में मिली हैं, परन्तु इस विषय से आन्ध्र प्रदेश का तेलंगाना सब से अधिक समृद्ध प्रतीत होता है। इस क्षेत्र के करीमनगर और नालगोंडा जिलों में हथियारों के अलावा तराजू की डंडी, मूठवाले फावड़े और कुल्हाड़ियाँ, हँसियां, फाल, उरसा और करछुल आदि लोहे की वस्तुएँ मिली है। छुरी, काटे सहित भारतीय लोहे और इस्पात का निर्यात अबीसीनियाई बन्दरगाहों को किया जाता था और पश्चिम एशिया में उनकी भारी प्रतिष्ठा थी। कपड़ा बनाने, रेशन बुनने और अस्त्रों एवं विलास की वस्तुओं के निर्माण में भी प्रगति हुई। मथुरा शाटक नामक एक विशेष प्रकार के वस्त्र के निर्माण का एक बड़ा केन्द्र हो गई थी। दक्षिण भारत के कई नगरों में रंगरेजी एक उन्नत शिल्प थी। तमिलनाडु में तिरुचिरापल्ली नगर के उपान्वर्ती उरेऊर में ईटों का बना एक रंगाई का हौज मिला है। अरिकमेदु में भी इस तरह के हौज मिले हैं। ये हौज ईसा की पहली तीसरी सदियों के हैं। इन क्षेत्रों के करघे पर कपड़ा बुनने का व्यवसाय बहुत प्रचलित था। कोल्हू के प्रचलन से तेल के उत्पादन में वृद्धि हुई। इस काल के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि बुनकरों, सुनारों, रंगरेजों, धातुशिल्पियों, दन्तशिल्पियों, जौहरियों, मूर्तिकारों, मछुओं, लोहारों, गन्धियों ने बौद्ध भिक्षुओं के लिए गुहाएँ बनवाई तथा उन्हें स्तम्भ पटट, कुंड आदि का दान दिया। इन सब से प्रकट होता है कि उनके धन्चों में खूब बढ़त थी। विलास की वस्तुओं का उत्पादन करने वाले शिल्पों में हाथीदांत का काम शीशे का काम और मणिमाणिक्य बनाने का काम उल्लेखनीय है। शल्क उद्योग भी उन्नत स्थिति में था। कुषाण परिक्षेत्र में खुदाई के क्रम में बहुत सी शिल्प वस्तुएँ निकली है। भारतीय दन्तशिल्प की वस्तुएँ अफगानिस्तान और रोम में भी मिली है। इनका सम्बन्ध दक्कन में सातवाहन स्थलों के उत्खनन में पायी गयी दन्तशिल्प वस्तुओं से जोड़ा जाता है। रोम की शीशे की वस्तुएँ तक्षशिला और अफगानिस्तान में मिलती हैं, लेकिन भारत ने शीशा बालने की जानकारी ईसा सन् के आरम्भ में आकर प्राप्त की है और उसे चोटी पर पहुँचाया। इसी तरह मौर्योत्तर स्तरों में रत्नतुल्य पत्थरों के मनके या मणियाँ बड़ी संख्या में मिलती है। इन्ही स्तरों में शंख के बने मनक और कंगन भी पाये गये हैं। सिक्कों की ढीलाई एक महत्वपूर्ण शिल्प थी और यह काल सोने, चाँदी, ताँबे काँसे, सीसे और पोटीन के तरह–तरह के सिक्के बनाने के लिए मशहूर है। शिल्पी लोग नकली रोमन सिक्के भी बना लेते थे। सिक्का ढालने के कई तरह के साँचे उत्तर भारत और दक्कन दोनों जगह पाये गए हैं। सातवाहन स्तर के एक साँचे से पता चलता है कि इससे छह–छह सिक्के एक ही बार में निकल आते थे। इन नगर हस्तशिल्पों के साथ–साथ पकी मिट्टी की सुन्दर–सुन्दर मूर्तिकाएँ (टेराकोटा) भी बनती थीं जो विशाल मात्रा में पायी गयी है। ये लगभग सभी कुषाण और सातवाहन स्थलों में पाये गये हैं, किन्तु इस प्रसंग में नालगोंडा जिले के येल्लश्वरम का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है। जहीं मूर्तिकाएँ और उनके निर्माण के साँचे सबसे अधिक तख्या में मिले हैं। मूर्तिकाएँ और उनके साँचे हैदराबाद से लगभग 65 किलोमीटर की दूरी पर कोंडापुर में भी पाये गये है। मूर्तिकाएँ अधिकतर नगर निवासी उच्च वर्गों के लिए बनती थी। यह गौर करने की बात है कि गुप्त काल और खासकर गुप्तोत्तर

काल में नगरों के पतन के साथ ही मूर्तिकाएँ भी लुप्त सी हो गयी। शिल्पी लोग आपस में संगठित होते थे, जिनके संगतन क नाम श्रेणी था। ईसा की दूसरी सदी में महाराष्ट्र में बौद्ध धर्मावलम्बी गृहस्थ उपासकों ने कुम्हारों, तेलियाँ, और बुनकरों की श्रेणियों के यास धन जमा किया ताकि उससे बौद्ध भिक्षुओं को वस्त्र और अन्य आवश्यक वस्तुएँ दी जाएँ। इसी सदी में प्रतिदिन एक सो ब्राह्मण भोजन कराने के लिए एक अधिपति ने आटा पीसने वालों की एक श्रेणी के पास अपनी मासिक आय से बचाकर धन जसा किया। विभिन्न ग्रंथों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस काल के शिल्पियों की कम से कम चौबीस–पच्चीस श्रेणियों प्रचलित थीं। अभिलेखों से ज्ञात अधिकतर शिल्पी मथुरा क्षेत्र में तथा पश्चिमी दक्कन में जमे थे, जो पश्चिमी समुद्र तट की ओर जाने वाले व्यापार–मार्गों पर पड़ते हैं। इस काल की सबसे भारी आर्थिक घटना थी भारत और पूर्वी रोम साम्राज्य के बीच फलता–फूलता व्यापार। आरंभ में यह अधिकतर स्थल–मार्ग से होता था। ईसापूर्व पहली सदी से शकों, पार्थियनों और कुषाणों के संचार के कारण स्थल मार्ग से व्यापार करना संकटापन्न हो गया। यद्यपि ईरान के पार्थियन लोग भारत से लोहा और इस्पात का निर्यात करते थे, लेकिन वे ईरान के और भी पश्चिमी इलाकों के साथ भारत के व्यापार में बाधा डालते थे परन्तु ईसा की पहली सदी से व्यापार मुख्यतः समुद्री मार्ग से होने लगा।

लगता है कि ईसा सन् के आरम्भ के आसपास मानसून के रहस्य का पता लग गया, फलस्वरूप अब नाविक अरब सागर के पूर्वी तटों से उसके पश्चिमी तटों तक का सफर काफी कम समय में कर सकते थे। वे भारत के विभिन्न बन्दरगाहों पर आसानी से पहुँच सकते थे, जैसे पश्चिमी समुद्र तट पर मढ़ौच और सोपारा, तथा पूर्वी तट पर अरिकमेदू और तामलिप्ति। इन सभी बन्दरगाहों में मढ़ौच सबसे महत्वपूर्ण और उन्नतिशील था। वहीं सातवाहन राज्य के उत्पादन तो पहुँचते ही थे, शक और कुषाण लोग पश्चिमोत्तर सीमा प्राप्त से पश्चिमी समुद्र तट तक दो मार्गों से जाते थे। दोनों मार्ग तक्षशिला में मिलते थे और मध्य एशिया से गुजरने वाले रेशम मार्ग से भी जुड़े थे। पहला मार्ग उत्तर से सीधे दक्षिण की ओर जाता था। तक्षशिला को निम्न सिन्धु घाटी से जोड़ता था और वहाँ से मढ़ौच चला गया था। दूसरा मार्ग, जो उत्तरापथ नाम से विदित है। अधिक चालू था। यह तक्षशिला से चलकर आधुनिक पंजाब से होते हुए यमुना के पश्चिम तट पहुँचता और यमुना का अनुसरण करते हुए दक्षिण की ओर मथुरा पहुँचता था। फिर मथुरा से मालवा के उज्जैन पहुँचकर वहाँ से पश्चिमी समुद्र तट पर मढ़ौच जाता था। उज्जैन में आकर एक और मार्ग उससे मिलता था, जो इलाहाबाद के समीप कौशाम्बी से निकला था। भारत और रोम के बीच व्यापार लो भारी मात्रा में चला लेकिन इस व्यापार में साधारण लोगों के रोजमरे के काम की चीजें शामिल नहीं थी। बाजार में विलास की वस्तुएँ खूब मिलती थी। जिन्हें कभी–कभी अभिजातवर्गीय आवश्यकता की वस्तुएँ भी कहते हैं। रोम वालों ने सबसे पहले देश के सुदूर दक्षिणी हिस्से से व्यापार आरम्भ किया इसीलिए उनके सबसे पहले के सिक्के तमिल राज्यों में मिले हैं जो सातवाहन के राज्यक्षेत्र के बाहर है। रोम वाले मुख्यतः मसालों का आयात करते थे जिनके लिए दक्षिण भारत मशहूर था। मध्य और दक्षिण भारत से मलमल, मोती, रत्न और माणिक्य का आयात करते थे। लोहे की वस्तुएँ खास का बर्तन, रोमन साम्राज्य में भेजी जाने वाली महत्वपूर्ण वस्तुएँ थी। मोती, हाथीदाँत रत्न और पशुविलास की वस्तुएँ मानी जाती थी, किन्तु पौधे और उसके सामान लोगों की धार्मिक, अतिम संस्कार विषयक, पाक संबंधी, और औषधीय आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। पाकशाला के बर्तन भी आयात में शामिल रहे होंगे। छुरी–काँटे का प्रयोग उच्चवर्ग के लोगों में शायद महत्वपूर्ण स्थान रखता होगा। भारत से सीधे भेजी जाने वाली वस्तुओं के अलावा कुछ वस्तुएँ चीन और मध्य एशिया से भारत आती और तब यहीं रोमन साम्राज्य के पूर्वी भागों में भेजी जाती थी। रेशम चीन से सीधे रोमत साम्राज्य को अफगानिस्तान और ईरान से गुजरने वाले रेशम मार्ग से भेजा जाता था। लेकिन बाद में जब ईरान और उसके पड़ोस के क्षेत्रों में पर्थियानों का शासन हो गया तब इसमें कठिनाई पैदा हुई। अत रेशम रास्ता बदलकर इस उपमहाद्वीप के पश्चिमोत्तर भाग से होते हुए पश्चिमी भारत के बन्दरगाहों पर आने लगा। कमी–कभी चीन से रेशम भारत के पूर्वी समुद्र तट होते हुए भी भारत आता था तब वह यहाँ से पश्चिम को जाता था। इस प्रकार भारत और रोमन साम्राज्य के बीच रेशम का पारगमन व्यापार काफी चला। बदले में, रोमन लोग भारत को शराब, शराब के दोहत्ये कलश और मिट्टी के अन्याय प्रकार के पात्र भेजते थे। ये वस्तुएँ पश्चिमी बंगाल के तामलुक, पांडिचेरी के निकट के अरिकभेदू और दक्षिण भारत के कई अन्य स्थानों में खुदाई में मिली है। कभी–कभी तो वे वस्तुएँ गुवाहाटी तक पहुँच जाती। लगता है, सातवाहन अपना सिक्का ढालने में जिस सीसे का इस्तेमाल करते थे वह रोग से लपेटी हुई पट्टियों की शकतजारतर भारत में दो सुषों में इस उपमहाड़ी के परिवार नाग में ईसा की दूसरी सदी में होम के साम्राज्य के पूर्वी भान के साथ व्यापारा लिया गया, तब इस व्यापार को और सहूलियत मिली। रोम सम्राट ट्रजनन केवल मस्कट पर विजय प्राप्त ही बाकि कार की वाड़ी का पता भी लगाया। व्यापार और विजय के फलस्वरूप रोमन वस्तुएँ अफगानिस्तान और पश्चिमोत्तर भारत में पहुँची। काबुल से बारह किलोमीटर वनात बेग्राम में इटली मित्र और गीरिया में बने शीश के बड़े–बड़े मर्तबान मिले हैं। यहाँ कटोरे कोसे का गौड़ा इस्पात का पैमाना, पश्चिमी बाट, काँरो की छोटी–छोटी यूनानी रोमन मूर्तियाँ सुराहियों और सिलबड़ी के अन्याय पात्र भी मिले हैं। जिसकी पहचान पाकिस्तान के पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त के आधुनिक से की गई है, यूनानी रोमल कांस्यमुर्तियों के उत्कृष्ट नमूने मिले है। हमें चाँदी को गहने, कुछ कांस्य पात्र एक कलश और रोमन द तिबेरिअस को कुछ सिक्के भी मिले हैं।

अवन्तिराज प्रद्योतकाल में मगध

रामेन्द्र कुमार शर्मा

जातक संदर्भों से ज्ञात होता है कि मगध के सम्राट बिम्बसार एवं अवन्तिराज चंड प्रद्योत में मैत्रीपूर्ण संबंध थे, पर मगधराज अजातशत्रु से उसके सम्पर्क भयपूर्ण थे, इसलिये उसने उसके आक्रमण के भय से राजगृह के प्राचीरों का नवीनीकरण करवाया था। अजातशत्रु के पुत्र ने पाटलिपुत्र की स्थापना की थी एवं अपनी राजधानी भी उसने वहीं स्थानान्तरित कर दी। स्थविरावली से ज्ञात होता है कि अवन्तिराज में वैमनस्य था। पाटलिपुत्र के उस राजा ने किसी पड़ौसी राजा को पराजित किया था, जिसके राजकुमार ने अवन्तिराज की शरण ली थी एवं उसी के परामर्श से भिक्षुओं में उसने हत्या कर दी। इस घटना की ऐतिहासिकता संदेहास्पद हो सकती है, पर इतना सत्य अवश्य है कि पाँचवीं सदी के पूर्वार्द्ध में पाटलिपुत्र एवं उज्जयिनी के राजनीतिक सम्पर्क तनावपूर्ण थे।

इसका कारण था मगध सम्राज्य की बढ़ती हुई शक्ति, जिससे अवन्ति के राजा द्वंद्व करते थे। उदायिन के उपरान्त पाटलिपुत्र में जो भी शासक हुए उनका शासनकाल अल्पकालीन था, फलतः यह ज्ञात नहीं होता कि उज्जयिनी के साथ उसके कैसे सम्पर्क थे। महावंश से ज्ञात होता है कि हर्यक कुल के राजाओं में अजातशत्रु से चलकर नागदशक तक सभी राजे पितृहन्ता थे, इसलिए जनता ने काशी के राज्यपाल शिशुनाग को पाटलिपुत्र का राजा बनाया। शिशुनाग ने राजगृह को मुक्त करने के लिये प्रद्योतों से घमासान युद्ध किया एवं उनकी प्रतिष्ठा खाक में मिला दी। शिशुनाग से पराजित होने वाला उज्जयिनी का प्रद्योत–राजा संभवतः अवन्तिवर्द्धन था जो चण्ड प्रद्योत का पौत्र एवं पालक का पुत्र था। पर, यह ज्ञात नहीं होता कि अन्य शिशुनागों एवं प्रद्योतों में सम्पर्क कैसे थे। शिशुनाग वंश के अंतिम राजा की हत्या कर महापद्मनन्द ने पाटलिपुत्र पर अधिकार कर लिया एवं नन्दवंश की स्थापना की। द्वितीय परशुराम के समान उसने भी क्षत्रियों का भयंकर संहार किया एवं मगध की राज्य सीमा उसने पश्चिमोत्तर में व्यास नदी तक, पश्चिम में सौराष्ट्र तक एवं दक्षिण में विदर्भ तक विस्तृत कर दी। अवन्ति एवं पार्श्ववर्ती क्षेत्रों पर शासन करने वाले हैहय एवं वीतिहोत्र क्षत्रियों का भी उसने उन्मूलन किया था। चौथी सदी ई.पू. के अंतिम चरण में चन्द्रगुप्त मौर्य ने नन्दों की सत्ता समाप्त कर मौर्यवंश की नींव डाली। उसने उज्जयिनी को नन्दों से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त किया था। जैन साक्ष्यों से विदित होता है कि उसका राजभवन भी उज्जयिनी में था, क्योंकि वहाँ उसकी प्रांतीय राजधानी थी। समय–समय पर वह उज्जयिनी में भी निवास करता था एवं राज्य के पश्चिमी क्षेत्रों पर नियत्रण वहाँ से रखता था। कौटिल्य ने भी अर्थशास्त्र में उज्जयिनी का उल्लेख दो बार किया है। बिन्दुसार के शासनकाल में भी उज्जयिनी अवन्ति राष्ट्र की राजधानी थी एवं उसका महत्व इस बात से विदित किया जा सकता है कि पाटलीपुत्र से वहाँ राजप्रतिनिधि के रूप में किसी राजकुमार को ही भेजा जाता था। महावंश से ज्ञात होता है कि राजप्रतिनिधि के रूप में पाटलिपुत्र से उज्जयिनी जाते हुए विदिशा में अशोक का प्रणय–व्यापार एक शाक्य व्यापारी की पुत्री से चला एवं उसके साथ उनके विवाह भी कर लिया, जिससे महेन्द्र एवं संघमित्रा हुए। बिन्दुसार की रुग्णावस्था का समाचार पाकर उसने उज्जयिनी से ही प्रस्थान कर पाटलिपुत्र में सत्ता हस्तगत कर ली थी। इन बातों से विदित होता है कि पाटलिपुत्र एवं उज्जयिनी एक दूसरे से सम्प्रक्त थे। अशोक का घनिष्ठ सम्पर्क उज्जयिनी से था, क्योंकि वह वहाँ का राज्यपाल रह चुका था एवं वहाँ की स्थिति से अधिक परिचित था।

राजा होने पर उसने अन्य क्षेत्रों के समान अवन्ति क्षेत्र के विकास की ओर ध्यान दिया एवं जनकल्याण के काम किये। उसने उज्जयिनी पर विशेष ध्यान रखा। अपने राज्याधिकारियों को उसने आदेश दिया था कि वे अपने अपने क्षेत्रों में अनुसंधान या भ्रमण के लिये प्रति पाँचवें वर्ष जायें, पर उज्जयिनी के राज्यपाल को आदेश था कि वह अनुसंधान प्रति तीसरे वर्ष कराये। इस विशेष ध्यान एवं अनुग्रह की आवश्यकता क्यों पड़ी? इसका कारण वहाँ की घनी आबादी था पर यह युक्तिसंगत नहीं लगता। संभवतः इसका कारण था अवन्ति के लोगों की स्वातंर्त्य, प्रियता, अतः उनके असंतोष को दूर करने एवं उनके कष्टों को मिटाने के लिए उसने अनुसंधान की अवधि को तीन वर्ष के अन्तराल से रखा। अशोक के शासनकाल में सम्प्रति उज्जयिनी का राज्यपाल था। उसकी मृत्यु के उपरान्त मौर्य साम्राज्य के विघटन की स्थिति में सम्प्रति ने उज्जयिनी पर अधिकार जमाये रखा एवं अवन्ति क्षेत्र में अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर ली थी। यही कारण है कि उसके जैन होने के कारण जैन ग्रंथों में उसको उज्जयिनी का राजा कहा गया है। पाटलिपुत्र एवं उज्जयिनी में जो सम्पर्क मौर्यकाल में था वह शुगकाल में नहीं रह सका। उज्जयिनी की अपेक्षा शुंगों ने विदिशा को अधिक महत्व दिया, क्योंकि वहाँ से विदर्भ, अवन्ति, वत्स, कोशल एवं अन्य क्षेत्रों पर आसानी से नियंत्रण रखा जा सकता था। पाटलिपुत्र के सम्राट पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र को वैदिशस्य कहा गया है। क्योंकि वह विदिशा में राज्यपाल था। पुष्यमित्र के पुरोहित पंतजलि ने जहाँ इस बात का उल्लेख किया है कि पाटलिपुत्र की स्थिति सोन नदी के तट पर थी, वहीं उन्होंने उज्जयिनी से माहीष्मती की दूरी का भी विवरण दिया है, इससे ज्ञात होता है कि वे पाटलिपुत्र एवं उज्जयिनी दोनों को देख चुके थे। शुंग काल में व्यापारी विदिशा होते हुए उज्जयिनी एवं आगे तक जाते थे, इनमें मगध के भी व्यापारी थे, जिनमें से एक ने साँची स्तूप के निर्माण में भी योगदान दिया था।

पुस्तक चर्चा/मिथिलेश यादव

संस्कृत लोकसहित्य और भोजप्रबन्ध

'भोजप्रबन्ध', संस्कृत लोकसाहित्य का एक श्रेष्ठ ग्रन्थ है। इसमें महाराज धारेश्वर भोज की राजसभा के कई सुन्दर कथानक है। यह बल्लाल सेन की कृति मानी जाती है और इसका रचनाकाल 16वीं शताब्दी है। इसकी रचना गद्य–पद्यात्मक कथोपकथन के रूप में है। इस प्रकार के संकलन की प्रवृत्ति जैन साहित्य में प्राप्त मेरुतुङ्ग–रचित 'प्रबन्धचिन्तामणि' तथा राजशेखर सूरि कृत 'प्रबन्धकोश' के रूप में है। यद्यपि इन कथानकों की ऐतिहासिक प्रामाणिकता पूर्ण रूप से स्वीकृत नहीं की जा सकती, तथापि यह ग्रंथ 11वीं शताब्दी ईसवी में वर्तमान जनजीवन पर प्रकाश डालने में बहुत कुछ समर्थ है।

विद्याव्यासंगी स्वयं कवि पंडित नरेश के होने पर किस प्रकार राजसभा में आस्थान पंडितों की मंडली तथा आगंतुक कविगण नित्य काव्यशास्त्र के विनोद द्वारा कालक्षेप करते थे, इसकी झाँकी इस ग्रंथ में प्रति पद पर मिलती है। दानवीर महाराज भोज किस प्रकार कवियों का सम्मान करते थे, इसका आदर्श इस ग्रंथ में मिलता है। कई पाश्चात्य मनीषियों ने भारतीय ऐतिहासिक तत्वों की खोज में भोजप्रबन्ध का अध्ययन कर तत्संबंधी अपने विचारों का प्रकाशन अनेक लेखों द्वारा किया है। उस समय संस्कृत न केवल राजभाषा ही थी अपितु उसे जनभाषा का भी गौरव प्राप्त था। भोजनगरी में ऐसा एक भी गृहस्थ न था जो संस्कृत में कविता रचने में असमर्थ हो।

उस समय का भारवाहक भी व्याकरण के अशुद्ध प्रयोग पर आपत्ति उठाने में समर्थ था, कुम्भकार तथा रजक, बाल, वृद्ध एवं स्त्रियाँ भी काव्यकला से अनभिज्ञ न थी। भोजप्रबंध में प्रबंध की अवतरणिका के अतिरिक्त 85 रोचक कथाएँ हैं और उन सबमें महाराज भोज से संबंधित किसी न किसी घटना का मनोरम वर्णन है। भोजप्रबन्ध के पद्य प्रायः सुभाषित हैं, भाषा सरल परन्तु काव्यशैली से अनुप्राणित है। काव्यनिर्माण की रीति सर्वत्र वैदर्भी है तथा काव्यप्रबंध प्रसाद गुण से ओतप्रोत है। गद्य प्रायेण चूर्णक के रूप में हैं, छोटे वाक्य हैं, व्याकरण के दुरूह प्रयोगों का सर्वथा अभाव है। दीर्घ समास तो क्वचित् ही दृष्टिगोचर होते हैं। यह ग्रंथ अलंकार तथा काव्यगत चमत्कार से परिपूर्ण है। इसमें सुन्दर उपमाएँ, उत्प्रेक्षा, रूपक, दृष्टान्त आदि अलंकारों के मध्य कहीं–कहीं अक्लिष्ट श्लेष का प्रयोग अत्यंत हृदयंगम है। उदाहरणार्थ– किसी समय हेमंतकाल में महाराज भोज अँगीठी ताप रहे थे, उनके निकट कवि कालिदास विराजमान थे। कौतुकवश राजा ने कवि से अँगीठी (जिसे संस्कृत में 'हसन्ती' कहते हैं) का वर्णन करने को कहा। कविवर तुरन्त ही एक आर्या प्रस्तुत करते हैंः कविमतिरिव बहुलोहा सुघरितचक्रा प्रभातवेलेव। हरमूर्त्तिरिव हसन्ती भाति विधूमानलोपेताघ् (पक्के लोहे से बनी हुई यह हसन्ती बहुल ऊहों (कल्पनाओं) से सुशोभित कवि की प्रतिभा के समान है। चक्रवाक पक्षी का प्रिया से मिलन करानेवाली प्रभात वेला की भाँति यह सुन्दर चक्राकार से मंडित हैं तथा धूम रहित अग्नि से भरी हुई यह चन्द्र, उमा और अग्नि से संयुक्त की भँति सुशोभित है।) यह पद्य श्लिष्ट मालोपमा का रमणीय उदाहरण है तथा कविप्रतिभा का भी उज्ज्वल निदर्शन है।

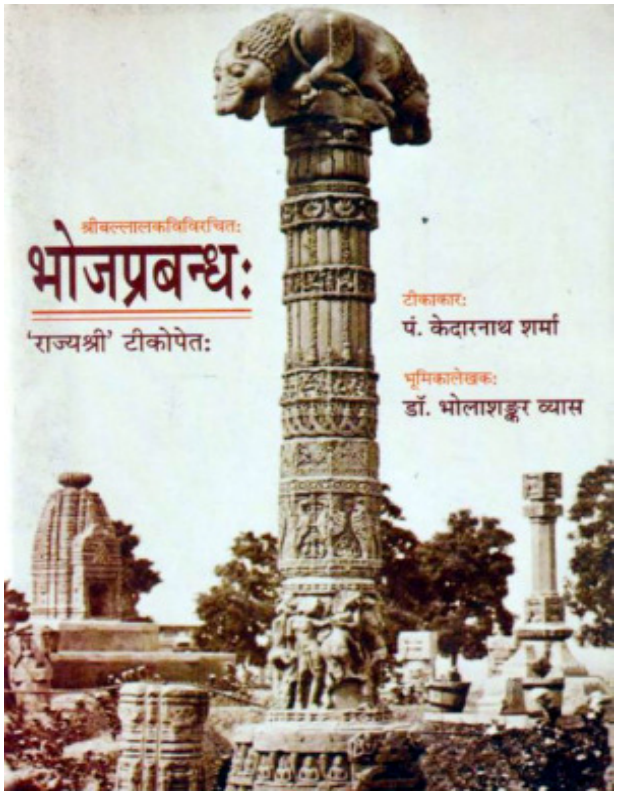

ऐसे अनेक प्रसंगों पर कविगण द्वारा प्रस्तुत सुन्दर सुभाशित का भोजप्रबन्ध एक सुन्दर संग्रह है। भोजप्रबंध, बल्लाल की कृति है। बल्लाल के संबंध में प्रामाणिक जानकारी नहीं है। इतना ही पता चलता है कि बल्लाल दैवज्ञ अथवा बल्लाल मिश्र नामक एक काशीनिवासी विद्वान् था। उसके पिता का नाम त्रिमल्ल था। भोजप्रबन्ध के अंतःसाक्ष्य के आधार पर कहा जा सकता है कि बल्लाल का समय कहीं ई. 16वीं शताब्दी होगा। भोजप्रबन्ध के नाम से बल्लाल के अतिरिक्त अन्य कवियों द्वारा प्रणीत कृतियाँ भी हैं। कहा जाता है कि आचार्य मेरुतुंग ने भी एक भोजप्रबन्ध लिखा था जो आज उपलब्ध नहीं है। इतना अवश्य है कि मेरुतुंग के 'प्रबन्ध चिंतामणि' में भोज कथाएँ हैं।

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ, स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन के लिए 1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010 से प्रसारित. सम्पादक : श्रीराम तिवारी, समन्वयक : राजेश्वर त्रिवेदी.

आलेख सेवा निःशुल्क वितरण के लिए. फोन: 0734-2521499, 0755-2660407 Email:mvspujjain@gmail.com, vikramadityashodhpeeth@gmail.com